# आस्था और विचारधारा पर मचा बवाल

डॉ. व्रजकुमार पांडेय
समता कॉलोनी,
हाजीपुर ;वैशाली
मो. 9934982306

फिर कम्युनिस्टों के बीच आस्था और विचारधारा को लेकर दंगल शुरू हो गया है। यह दंगल कोई नया नहीं है। यह बहुप्रचारित है कि कम्युनिस्ट धर्म विरोधी होते हैं। यह प्रचार इतना व्यापक रहा है कि धर्म परायण जनता कम्युनिस्ट पार्टी से दूर-दूर भागती रही है। इस भ्रम को पाटने के लिए कम्युनिस्टों ने अपने संविधान में धर्म में आस्था रखने वालों को पार्टी की सदस्यता देने का प्रावधान किया है। यह बात सही है कि कम्युनिस्ट होने और मार्क्सवादी होने में अन्तर है। एक मार्क्सवादी धर्म में आस्था और विश्वास नहीं रखता है लेकिन एक कम्युनिस्ट धर्म में आस्था रख सकता है। यह बात भी सही है कि कम्युनिस्ट पार्टियां मार्क्स के विचारों को साकार करने के लिए बनी हैं। लेकिन भारत जैसे देश में जहां कि बहुसंख्यक जनता धर्म में आस्था रखती है जिसमें अधिकांश शोषित-पीड़ित-दुःखी, दरिद्र ही हैं जो कम्युनिस्टों के नेतृत्व में अपनी मुक्ति की लड़ाई लड़ती हैं, अपनी स्थापना के करीब पचासी वर्षों में भी कम्युनिस्ट अपनी कतार में चलनेवालों को धर्म के विरुद्ध समझा-बुझा नहीं सके हैं। जबतक देश में दलितों के लिए मंदिर प्रवेश निषिद्ध था-उनमें मंदिरों में बैठे भगवान के दर्शन की उनमें कितनी ललक थी-हम सभी अपने इतिहास में झाँककर महसूस कर सकते हैं। जब संविधान से उन्हें छूट मिल गई है-वे अधिकार से मंदिरों में आने-जाने लगे हैं। फुले और अम्बेडकर के लाख प्रयास के बावजूद हिन्दू धर्म के देवी-देवताओं के प्रति उनकी आस्था में कोई कमी नहीं आयी। कम्युनिस्ट अपने ही परिवार के सदस्यों को धार्मिक आचरण करने से रोक नहीं पाते हैं। यहाँ यह बात गौर करने की है कि हमारे यहाँ त्योहारों को भी धार्मिक बना दिया गया है जिसका सीधा संबंध हमारी सांस्कृतिक गतिविधियों से है। जबकि पश्चिमी देशों में इस प्रकार के प्रश्न सामाजिक प्रश्नों की श्रेणी में रखकर धर्म से अलग कर दिये गये हैं। ऐसी स्थिति में कम्युनिस्टों को चाहिए था कि वह इस सवाल पर गंभीरता से विचार करते और देश की एक सांस्कृतिक नीति तैयार करते। मार्क्स और लेनिन ने धर्म के सवाल पर किताबें लिखी। अपनी सोच को दुनिया के सामने रखा लेकिन कम्युनिस्टों का फर्ज था कि वे जनता के बीच उसे ले जाते। रूस में सरकारी आदेश से धर्म पर प्रतिबंध था। इसका 7 वर्षों तक सरकारी आदेश से पालन भी होता रहा लेकिन जैसे ही समाजवादी व्यवस्था ढही-लोग ईश्वर, पादरी और गिरिजा घर के शरण में जाने लगे।

धर्म की अवधारणा 'जनता के लिए अफीम' के रूप में अभिव्यक्त की जाती है। इस अवधारणा के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स और नास्तिक अराजकवादी माने जाते हैं। किन्तु कार्ल मार्क्स ने धर्म संबंधी इस धारणा (धर्म जनता के लिए अफीम हैं) को किस अर्थ में ग्रहण किया था-उसे लोग भूल जाते हैं। उसने तो धर्म सम्बन्धी विचारों और संस्थाओं को मानव के क्रिया कलापों के चरित्र से पैदा होने वाला और उसी को व्यक्त करने वाला माना था। इस अवधारणा की व्याख्या करते हुए ब्रितानी मार्क्सवादी विचारक आर्थिवाल्ड रॉबर्टसन ने कहा था कि मार्क्स और एंगिल्स के अनुसार व्यक्ति सोच सकें इसके पहले केवल उपासना की जाए कि उन्हें जीना चाहिए-कि उन्हें भोजन, जल, आवास, वस्त्र और जीवन की अन्य आवश्यक वस्तुएँ मिले। उनके अनुसार, आदमी कार्य करता है और विश्व को बदल देता है, जिसका वह अंग है। विचार, उपकरणों में से एक हैं जिनसे वह ऐसा करता है। अतः इतिहास केवल विचारों का प्रगटीकरण नहीं है, बल्कि विश्व को बदलने के लिए किये गये संघर्षों की श्रृंखला है। (मार्क्स और एंगिल्स)

मार्क्स के विचार में धार्मिक भावनाएँ जैसे आश्चर्य, विस्मय, निराश्रय और दुःख आदि अनुभूति में प्रकट होते हैं जो सर्वप्रथम मनुष्य की प्रकृति की शक्तियों के डर और उसके नियंत्रण की कठिनाई से उत्पन्न होते हैं। जो उसके 'बाहर' और हमेशा उसके 'ऊपर' प्रतीत होते हैं और बाद में, वर्गों और वर्गजुल्म पर आधारित समाज और मनुष्य की उस समाज की समझ या नियंत्रण की अक्षमता के उदय के साथ ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वह उससे 'बाहरी और उसके ऊपर' की चीज है। मार्क्स ने कहा था कि धर्म दमनात्मक सामाजिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति और उसके विरुद्ध विद्रोह करनेवाला दोनों ही है। इस सन्दर्भ में अफीम संबंधी मार्क्स की सूक्ति के अवतरण को उद्धृत किया जा

"धर्म की अवधारणा 'जनता के लिए अफीम' के रूप में अभिव्यक्त की जाती है। इस अवधारणा के प्रवर्तक कार्ल मार्क्स और नास्तिक अराजकवादी माने जाते हैं। किन्तु कार्ल मार्क्स ने धर्म संबंधी इस धारणा (धर्म जनता के लिए अफीम हैं) को किस अर्थ में ग्रहण किया था–उसे लोग भूल जाते हैं। उसने तो धर्म सम्बन्धी विचारों और संस्थाओं को मानव के क्रिया कलापों के चरित्र से पैदा होने वाला और उसी को व्यक्त करने वाला माना था।"